

अपरिग्रह-एक विवेचन

-डॉ. कमल पुंजाणी

'परिग्रह' शब्द संस्कृत की 'ग्रह' धातु में 'परि' उपसर्ग जोड़ने से बना है। जिसका अर्थ होता है चारों ओर से बटोरना, अनेक वस्तुओं का संग्रह करना, समेटना इत्यादि 'ग्रह' धातु के पहले विविध उपसर्ग जोड़ने से जो अनेक शब्द बनते हैं, उनकी सूची सुदीर्घ और सुन्दर है, किन्तु उसी में 'परिग्रह' शब्द विशेष चर्चित एवं चारुतापूर्ण है। इसमें निषेधवाचक 'अ' जोड़ने से 'अपरिग्रह' शब्द बनता है।

अपरिग्रह' धर्मशास्त्रो, विशेषतः जैन धर्मशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। 'मनुस्मृति' याज्ञवल्क्य स्मृति' आदि धर्मशास्त्रों में धर्म का स्वरूप स्पष्ट करते समय 'सत्य', 'अहिंसा' 'अस्तेय' आदि लक्षणों में 'अपरिग्रह' शब्द का प्रयोग हुआ हो या नहीं परन्तु मुनि श्री सन्तबालजी ने 'सत्य, अहिंसा, चोरी न करवी, वण जोतुं नव संघरवुं...' नामक अपने एक गुजराती गीत में जिन ११ महाव्रतों का उल्लेख किया है, उनमें 'अपरिग्रह' को अवश्य स्थान दिया है।

जैन-दर्शन में 'अपरिग्रह' शब्द का जहां व्यापक रूप में प्रयोग हुआ है, वहां इसके अन्य परम्परित एवं सन्दर्भगत अर्थ भी प्रदर्शित किये गये तदनुसार, 'परिग्रह' का अर्थ 'पाणिग्रहण' के अतिरिक्त 'धनादि पदार्थों का वासनामूलक संग्रह' भी होता है। इस दृष्टि से 'अपरिग्रह' का अर्थ होगा - पत्नी, पुत्रादि व्यक्तियों तथा धन, दौलत, विलास, वैभवादि वस्तुओं एवं वृत्तियों से मुक्त होना, परे होना।

यहां ध्यातव्य है कि 'अपरिग्रह' शब्द, जैन-दर्शन में, केवल 'व्यक्ति' या 'वस्तु' के त्याग ही सूचक नहीं वरन् 'वृत्ति' से मुक्ति का द्योतक भी है। दूसरे शब्दों में, जैनागम के अनुसार, काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि वृत्तियां भी 'परिग्रह' की श्रेणी में आती हैं। इसी कारण, जब तक इन वृत्तियों से छुटकारा नहीं मिलता, तब तक 'वास्तविक अपरिग्रह' की स्थिति या तृप्ति असम्भव है।

'अपरिग्रह' के इस महत्त्व को ध्यान में रखकर कुछ जैन विद्वान अहिंसा से भी उसे अधिक मननीय तथा महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

हिन्दी-जगत् में कथा-साहित्य की चर्चित पत्रिका 'कथालोक' के सम्पादक श्री हर्षचन्द्र द्वारा आयोजित एक परिचर्चा (अप्रैल, १९८०) में युवाचार्य महाप्रज्ञ ने अपरिग्रह' की महत्ता इन शब्दों में प्रकट की है।

“अहिंसा परमो धर्मः” का घोष जैन धर्म का महान घोष माना जाता है। इसमें कोई सच्चाई नहीं है, यह मैं कैसे कहूँ, पर मैं इस सच्चाई को उलट कर देखता हूँ - 'अपरिग्रह : परमो धर्मः' यह पहली सच्चाई है और 'अहिंसा परमो धर्मः' यह इसके बाद होने वाली सच्चाई है।”

अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए आचार्यजी लिखते हैं :

“यह सर्वथा मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य हिंसा के लिए परिग्रह का संवय नहीं करता, किन्तु परिग्रह की सुरक्षा के लिए हिंसा करता है। जैसे-जैसे अपरिग्रह का विकास होता है, वैसे-वैसे अहिंसा का विकास होता है।....”

इससे स्पष्ट है कि अपरिग्रह का व्रत अहिंसा-व्रत से अधिक उत्तम एवं उपयोगी है।

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार तथा प्रसिद्ध जैन विद्वान श्री यशपाल जैन 'अपरिग्रह' के सूक्ष्म अर्थ की ओर इंगित करते हुए कहते हैं :

“सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो कभी-कभी साधनहीन साधु परिग्रही मिलते हैं और साधनयुक्त श्रावक अपरिग्रही। साधु में अपनी साधुता का गुमान और श्रावक में अपनी सम्पदा का अभिमान हो, तो दोनों ही परिग्रही की श्रेणी में पहुँच जाते हैं।”

इस प्रकार परिग्रह आसक्ति और अपरिग्रह अनासक्ति से सम्बद्ध है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या संपूर्ण अपरिग्रह सम्भवित और सराहनीय है? यदि हा, तो किसके लिए? कैसे? इन प्रश्नों का उत्तर श्रावक तथा साधु के जीवनादर्श और जीवनोद्देश्य को ध्यान में रखकर ही दिया जा सकता है।

वस्तुतः श्रावक के लिए परिमित ग्रहण तथा साधु के लिए पूर्ण अपरिग्रह अभीष्ट है।

श्रावक को अपने परिवार तथा साधु समाज-दोनों के निर्वा का दायित्व वहन करना पडता है। इसलिए अपरिग्रह-व्रत का पूर्ण पालन उनके लिए असम्भव है, किन्तु वह अपनी आवश्यकताओं का अल्पीकरण करते हुए, सन्त कबीर की भांति, इतना निवेदन अवश्य कर सकता है :

“साई, इतना दीजिये जा में कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥”

इच्छाओं तथा आवश्यकताओं का यह अल्पीकरण श्रावक के लिए अपरिग्रह-व्रत-तुल्य हो जायेगा।

श्रावक यदि साधु-समाज के भौतिक योग-क्षेम का दायित्व वहन करता है तो साधुओं को सम्पूर्ण श्रावक-समाज के 'आत्मिक उन्नयन' का दायित्व वहन करना पडता है। इसके लिए पहले उन्हें सुख-दुःख, राग-द्वेष, मानापमान आदि द्वन्दो से ऊपर उठना पडता है। इस 'आत्म-विकास' के लिए उन्हें अपरिग्रह-व्रत के पूर्ण पालन की आवश्यकता होती है। ऐसे अपरिग्रह व्रत धारी साधु के लिए गीता (२/५६) में 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा देते हुए कहा गया है :

“दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥”

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अपरिग्रह एक महाव्रत है। यह अहिंसा से भी अधिक महत्वपूर्ण है किन्तु इसका पूर्ण पालन संसार-मुक्त वैरागियों से ही सम्भव है। जैन-दर्शन में अपरिग्रह केवल भौतिक सुख-सुविधाओं के त्याग तक ही सीमित नहीं है, किन्तु 'समस्त इच्छाओं से मुक्ति' (To have no desire is divine) का पर्याय है।